सिनेमा में स्त्री विमर्श

कुमारी श्वेता*

shwetakumarisk2001@gmail.com

सार

स्त्री अधिकारों की गुँज जो 19 वीं शताब्दी में पश्चिमी देशों से उठी थी वह आज भी पूरे विश्व में एक चर्चा का विषय बना हुआ है। एक तरफ जहाँ भारत आज़ादी का अमृत महोत्सव मना रहा है वहीं दूसरी तरफ हम पाते हैं कि एक समतामूलक समाज बनाने में भारत की प्रगति धीमी और निराशाजनक है। मणिपुर से आई घटनाएं आज भी देश में महिलाओं के अधिकार और सुरक्षा को लेकर कड़े सवाल खड़े करती है। भारतीय सिनेमा के आरंभिक दशकों में जो फिल्में बनती थी उसमें भारतीय संस्कृति की महक अधिक थी। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में महात्मा गाँधी के जिस आदर्शवादी और अहिंसक सोच ने पूरे विश्व को प्रभावित किया। उससे भारतीय साहित्य भी अछूता नहीं रह सका। साहित्य जगत के महान कथाकार एवं उपन्यासकार मुंशी प्रेमचंद भी अपने शुरुआती रचनाओं में गाँधी जी के आदर्शवादी सोच से प्रभावित दिखते हैं। हिंदी साहित्य के महान साहित्यकार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का कथन "साहित्य समाज का दर्पण है" किंतु उसी के साथ जब सिनेमा की बात की जाए तो यह समाज और साहित्य से इतर नहीं है। सिनेमा एक ऐसा माध्यम है जो जन-जन से जुड़ा हुआ है। भारतीय फिल्मकारों ने लगातार फिल्म के माध्यम से साहित्यिक रचनाओं को बड़े पैमाने पर पहचान दिलाई है। साहित्य जगत जब आदर्शवाद से यथार्थवाद की तरफ बढ़ने लगा इसका सीधा प्रभाव हिंदी सिनेमा पर भी पड़ा। हिंदी सिनेमा में महिलाओं की बात करें तो 30 का दशक प्रगतिशीलता का दौर था। भारतीय सिनेमा में समानांतर सिनेमा ने लोकप्रिय तथा व्यावसायिक सिनेमा में फौर्मूलाबद्ध स्त्री किरदारों के ढांचे को तोड़कर सामाजिक यथार्थ की ज़मीन पर जीती-जागती स्त्री को अपनी फिल्मों में प्रस्तुत किया। समानांतर सिनेमा के दौर में स्त्री निर्देशकों ने भी बेहतर और सशक्त तरीके से अपनी उपस्थिति दिखाते हुए परम्परागत रूढ़ियों को तोड़ने का प्रयास किया है। 21 वीं सदी में आते-आते यदि नज़र डालें तो पूरे हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श, स्त्री मुक्ति, स्त्री अस्मिता, पुरुष वर्चस्ववादी समाज और पितृसत्तात्मक व्यवस्था आदि शब्दों और इनसे जुड़े साहित्य और सिनेमा की भरमार दिखाई देती है। हिंदी साहित्य में आधुनिक महिला कथाकारों ने भी अपना अमूल्य योगदान दिया है। अंतर्राष्ट्रीय संबंध में भी नारीवादी दृष्टिकोण को 1980 से प्रमुखता मिली है। इस शोध का केंद्रीय विचार यह है कि समाज में महिलाओं को उनके लिंग के कारण अक्सर कठिनाई का सामना करना पड़ता है तथा दूसरा विचार इस कठिनाई को कैसे दुर किया जाए से संबंधित है।

कुंजीशब्द: भारतीय सिनेमा, स्त्री विमर्श, समता मूलक समाज, स्त्री-अधिकार, लिंग

---

* **हिंदी साहित्य, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली**

सिनेमा में स्त्री का आगमन

सिनेमा में स्त्री का आगमन स्त्री सशक्तिकरण का जीता-जागता उदाहरण है। भले ही सिनेमा और साहित्य दो पृथक विधाएँ हैं लेकिन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत गहरा है। जब कहानी पर आधारित फ़िल्में बनने की शुरुआत हुई तो इनका आधार साहित्य ही बना। भारत में बनने वाली पहली फीचर फिल्म दादा साहेब फाल्के ने बनाई जो भारतेन्दु हरिश्चंद्र के नाटक पर आधारित थी। हालाँकि साहित्य के साथ सिनेमा में भी शुरुआती समय तक हमें पौराणिक कथाएं, आम मान्यताएं, पराक्रम की गाथाएं, लोक साहित्य तथा विचारों के मिश्रन का मिलाजुला रूप देखने को मिलता है। सिनेमा की शुरुआती विधाओं में अर्थात ऐतिहासिक, पौराणिक, समाजिक फिल्मों में स्त्री को ममता, महिमा, भावनात्मक बहन, आदर्श पत्नी और जीवन न्योछावर कर देने वाली स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है। स्त्री की समस्याएँ, स्त्री पुरुष संबंध, स्त्री की योनि, स्त्री की श्रृंगारिक अभिव्यक्ति, स्त्री का देह तथा स्त्री सौंदर्य की समूह प्रस्तुति ही सिनेमा के आकर्षण तत्व रहे हैं। जिसका एक प्रमुख कारण यह है कि सिनेमा में स्त्री की प्रस्तुति पुरुष की दृष्टि से होती रही है। एक समय था जब दादा साहब फाल्के को उनकी पहली फिल्म राजा हरिश्चंद्र में तारावती की भूमिका के लिए महिला अभिनेत्री की जगह पुरुष अभिनेता से ही संतोष करना पड़ा। यहां तक कि तवायफों के कोठों से भी उन्हें कोई स्त्री फिल्म में अभिनय के लिए नहीं प्राप्त हुई।

स्त्री की भूमिका को सिनेमा से जोड़ने में काफी संघर्ष करना पड़ा। इस परंपरा की सुदृढ़ नींव डालने वाली युगांतकारी अभिनेत्री थी "देविका रानी"। इस अभिनेत्री ने यह सिद्ध कर दिया कि सिनेमा का क्षेत्र केवल निम्न वर्ग या तुच्छ पृष्ठभूमि की स्त्रियों के लिए ही नहीं बल्कि अभिनय कला के प्रदर्शन में अभिजात्य एवं सुसंपन्न परिवारों की स्त्रियाँ भी सम्मिलित हो सकती हैं। पहली भारतीय महिला फिल्म निर्देशक फातिमा बेगम थीं, जिन्होंने 'बुलबुल-ए-पाकिस्तान' बनाई थी। दुर्गा खोटे पहली ब्राह्मण स्त्री थीं, जिन्होंने उस समय फिल्मों में अभिनय करने का असाधारण फैसला लिया जब उसे संदिग्ध पेशा माना जाता था। यों तो हिंदी सिनेमा को अप्रतिम ऊंचाइयों पर ले जाने वाली अनेक स्त्रियां रही हैं। जिन्होंने समय-समय पर अपनी अदाकारी से महिलाओं के हक़ की आवाज़ उठाई है तथा सिनेमा में 'महिलाएँ कुछ नहीं कर सकती और यह उनके लिए बना ही नहीं है' इस मिथक एवं पूर्वाग्रह को उन्होंने तोड़ा है। यूँ तो हिंदी सिनेमा में 30 का दशक महिलाओं के लिए प्रगतिशीलता का दौर था। किंतु इस समय तक अधिकतर फिल्मों में पुरुष का किरदार ज्यादा मजबूत होता था। जिसे मधुबाला और मीना कुमारी जैसी अभिनेत्रियों ने अपने सशक्त अभिनय से साबित कर दिया कि फिल्मों में महिलाओं की भूमिका कितनी अहम है। नरगिस, जीनत अमान, रेखा, विद्या बालन, प्रियंका चोपड़ा, कंगना रनौत, आलिया भट्ट, मीनाक्षी शेषाद्री जैसे अन्य अभिनेत्रियों ने लगातार महिलाओं की आवाज़ को सिनेमा में बुलंद किया है।

सिनेमा तथा साहित्य का अंतर्संबंध

भारतीय सिनेमा के आरंभिक दशकों में जो फिल्में बनती थी उसमें भारतीय संस्कृति की महक अधिक थी। जिसका एक कारण भारतीय संस्कृति पर गाँधी जी के आदर्शवादी विचारों की अमिट छाप नज़र आती है जिसके परिणाम स्वरूप साहित्य तथा सिनेमा भी इससे अछूता न रह सका। प्रेमचंद द्वारा रचित "बड़े घर की बेटी" कहानी इसी आदर्शवादी सोच का एक उदाहरण है। भारतीय सिनेमा में स्त्री का निरूपण कई प्रकार से हुआ है सर्वप्रथम जो निरूपण हुआ वह पौराणिकता के बोध को लिए थी जिसमें फिल्मकारों ने नायिकाओं की

नैतिक सर्वोपरिता स्थापित करने के उद्देश से उन्हें राधा, सावित्री, सीता, दुर्गा तथा काली के तुल्य घोषित किया। इसी आदर्श रूपी स्वरूप के कारण उन्हें काई बार पवित्रता का प्रतीक के रूप में अपमान सहना पड़ता है। स्त्री के इसी देवी मन के स्वरूप का जीता जागता उदाहरण मदर इंडिया (1957) में प्रस्तुत किया गया है। जिसमें देवी मन के पात्र के रूप में नरगिस (राधा), भारत माता का प्रतिरूप है, परंतु जब उसकी बिगडैल संतान बिरजू अर्थात सुनील दत्त ही उसका अपमान करने लगती है तो भारत माता उसे गोली मार देने में जरा भी संकोच नहीं करती।

समानांतर हिंदी सिनेमा में स्त्री

हिंदी सिनेमा में 30 का दशक महिलाओं के लिए प्रगतिशीलता का दौर था। जब समानांतर सिनेमा ने मनोरंजनवादी तत्वों से परहेज करते हुए समाज की सच्चाई को प्रस्तुत किया। श्याम बेनेगल इस सिनेमा के केंद्रबिंदु हैं। कला सिनेमा ने स्त्री जीवन के उस यथार्थ को उजागर किया जो अब तक परदे के अंदर घुटन की तरह थी। इस दौर में स्त्री के उस समाज की समस्याओं को भी जगह मिली जिस पर आज तक समाज ने ग़ैर-जरूरी या अनैतिकता का आवरण चढ़ा रखा था। विधवा समस्या, दहेज प्रथा, वेश्यावृत्ति की समस्या के साथ उन तमाम स्त्रियों की समस्या को स्पेस मिला जिन्हें पहले कभी इंसान नहीं समझा गया था। 'अछूत कन्या' में अछूत समस्या के साथ अन्तर्जातीय विवाह की समस्या, 'दुनिया न माने' में बेमेल विवाह की समस्या, 'बाल योगिनी' में उच्च जातियों में विधवाओं की दुर्दशा, 'अमर ज्योति' में विवाह संस्था के भीतर स्त्री की गुलामी, जेलर' कुंवारी माँ के संघर्ष को और बसन्ती', 'पड़ोसी', 'साधना' समाज में वेश्याओं की स्थिति को, मदर इण्डिया ग्रामीण एवं किसान स्त्री के संघर्ष को, मुगल-ए-आजम प्रेम में दीवार बनी अमीरी-गरीबी की खाई और वर्गभेद को, 'धूल का फूल कुंवारी माँ की बेबसी और अन्नत्व्यथा को, निकाह मुस्लिम समाज में तलाक की समस्या को दर्शाती है। लोकप्रिय सिनेमा ने जहाँ स्त्री को आदर्शवादी छवि में प्रस्तुत कर रखा था जिसे मदर इंडिया जैसे फिल्मों के विरोध का सामना करना पड़ा।

श्याम बेनेगल की फिल्म अंकुर में लक्ष्मी निम्न जाति की गरीब स्त्री है। यह फिल्म उच्च एवं संपन्न वर्ग द्वारा गरीब एवं निम्न जातियों की स्त्रियों के शोषण को बिना किसी बनावटीपन के यथार्थ रूप में दर्शाती है। अंकुर फिल्म में ही पहली बार एक स्त्री भरी पंचायत में यह कहने का साहस करती है..'ये बदन भगवान ने ही बनाया है और भूख सिर्फ पेट की नहीं होती है।' एक अन्य उदाहरण केतन मेहता द्वारा निर्देशित फिल्म 'मिर्च-मसाला' है जो सत्ता के अहंकार में डूबे पुरुषों द्वारा स्त्री देह की उपलब्धता को आसान समझने की मानसिकता पर करारा व्यंग्य है। मीना कुमारी से लेकर विद्या बालन तक, मदर इंडिया से लेकर लिपस्टिक अंडर माय बुर्का तक, हिंदी सिनेमा में महिलाएं देश में बदलाव ला चुकी हैं। इस धारा को सत्यजित राय, ऋत्विक घटक, मृणाल सेन, मणि कौल, बासु चटर्जी, अडूरगोपाल कृष्णन, कुमार शाहनी, गौत्तम घोष, अर्पणा सेन, एम. एस. सथ्यू, श्याम बेनेगल, गोविन्द निहलानी, सई परांजपे, केतन मेहता, जी. अरविन्दन जैसे अन्य हस्ताक्षरों ने समृद्ध किया है। यह आन्दोलन सामन्ती परिवेश की जड़ता को खत्म करने, स्त्री-अधिकारों की मुक्ति के प्रश्न और शोषितों-उत्पीड़ितों के सहज प्रतिरोध को उभारने में भारतीय समाज की मदद करता है। इसी समय साहित्य में भी प्रेमचंद रचित 'निर्मला', 'सेवासदन', 'प्रेमा', जैसी रचनाएँ समाज में विधवा-विवाह, वेश्यावृत्ति, दहेज एवं अनमेल विवाह की समस्या को गंभीरता से प्रस्तुत करने लगीं।

हिंदी सिनेमा में स्त्री विमर्श को जो स्थान मिला है, उसमें समानांतर सिनेमा की महत्वपूर्ण भूमिका है। बाजार, कहानी, भूमिका, उमराव जान, मायामेम साहब से होते हुए फायर, वाटर, फिजां, लज्जा, पिंजर आदि तक आते हुए फिल्मों ने जिस थोथी नैतिकता का आवरण चढ़ा रखा था उसका लबादा हट गया। दबी हुई आवाजें अब सिनेमा की चीख बन गई जिसका एक उदाहरण 'हाइवे' की नायिका है। जिसका शोषण उसके चाचा ही करते हैं और मां सब जानते हुए भी चुप कराती है किंतु यह चुप्पी अंत में चीख के रूप में बाहर आती है। यह कोई मामूली चीख नहीं है बल्कि उन चुप्पियों के खिलाफ है, जिसने हमारे घरों में हमें बेगाना बना दिया है। इसी तरह एक अन्य उदाहरण 'चाँदनीबार' और 'द डर्टी पिक्चर' की नायिका को दिखाया गया है। जिसमें वह सेक्स वर्कर की तरह ही काम करती है, पर पहली फिल्म में वह विवशतावश किया गया कार्य है जबकि द डर्टी पिक्चर की नायिका इसे सफलता की सीढ़ी बना लेती है। यहाँ राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की एक पंक्ति प्रासंगिक लगती है। वह लिखते हैं, 'योनि नहीं है केवल नारी' जबकि सत्य यहीं है कि प्राचीन समय से लेकर आज स्वतंत्र भारत के 76 वर्ष बाद भी स्त्री की स्थिति इससे बेहतर नहीं है। इसी तरह कहानी फिल्म की नायिका अपने मृत पति का बदला लेने के लिए स्वयं एक पुरा प्लॉट निर्मित करती है और सात मास की गर्भवती स्त्री का वेश धारण करके लोगों की संवेदना और सहानुभूति लेकर अपना लक्ष्य हासिल करती है। पिंक ने राष्ट्र को बताया कि जब कोई महिला नहीं 'कहती है तो इसका मतलब। नहीं' है। कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह क्या कपड़े पहनती है या वह किस जीवनशैली का नेतृत्व करती है, उसे उसकी मर्जी के खिलाफ कुछ भी करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता है।

स्त्री के अस्तित्व के इस संघर्ष को हिंदी सिनेमा ने कहीं-कहीं हल्के कॉमेडी अंदाज में भी प्रस्तुत किया है लेकिन उससे विषय के गंभीरता और संवेदना पर कोई अंतर नहीं आता है। 'इंग्लिश-विंगलिश' की नायिका अपने पति और बच्चों के मज़ाक का विषय बनती रहती है। घर, बच्चे और पति के कार्यों में ही जीवन की उपलब्धि मानने वाली स्त्री जब यह ठान लेती है कि उसे अपने लिए कुछ करना है तो वह आयु को भी बंधन नहीं मानती। वह इंग्लिश सीखती है और सबके सामने धारा प्रवाह इंग्लिश बोलकर सबको चकित कर देती है। इसके अतिरिक्त क्वीन, लज्जा, जुबैदा, डोर, पहेली, बैंडित क्वीन, मर्दानी जैसे अन्य सभी फिल्में समाज की स्त्री के प्रति सोच, स्त्री के अस्तित्व के संघर्ष, दमन के खिलाफ उसके आक्रोश और विरोध को दर्शाने वाली फिल्में है।

समकालीन सिनेमा में स्त्री

आज के दौर में सिनेमा में महिलाओं ने अपनी एक अलग पहचान बनाई है। स्त्री के परंपरागत माँ और पत्नी की भूमिका के बारे में सोच बदली है तो उसे शिक्षा और कैरियर की छुट मिली है। एक नया मुकाम स्थापित किया है, जिसके कारण अब 21वीं सदी के दौर का सिनेमा धीरे-धीरे पूर्ण रूप से महिलाओं को ही केंद्र में रखकर उसे सिनेमाई पर्दे पर उतारा जा रहा है। महिलाओं पर केंद्रित फिल्में अब जागरूकता के साथ उन्हें सशक्त भी बना रही हैं। जिस्म, अस्तित्व , सलाम नमस्ते, चक दे इंडिया, नो वन किल्ड जेसिका, चमेली, लज्जा, चीनी कम, द डर्टी पिक्चर, कहानी, पिंक, पार्च्ड जैसी अनेकानेक फिल्मों में औरतों के अस्तित्व की बात उठाई गई है। नो वन किल्ड जेसिका फिल्म जेसिका लाल हत्याकांड के वास्तविक जीवन की कहानी पर आधारित है। जिसमें एक बहन अपनी बड़ी बहन को गोली मारने वाले अमीर और प्रभावशाली व्यक्ति से लड़ाई करती है। इसी तरह कहानी फिल्म की पूरी पटकथा अप्रत्याशित मोड़ से भरी हुई है जो अपने पहचान को लेकर समाज से कड़े सवाल खड़े करती है।

फिल्मों ने स्त्री जीवन के पारिवारिक और सामाजिक सवालों को ही नहीं उठाया है बल्कि राजनीतिक सवालों को भी उठाया है। "वैयक्तिक ही राजनैतिक है" जैसी बुलंद घोषणा कर दूसरी लहर के आंदोलनकारियों ने नारी देह के शोषण, मातृत्व, प्रजनन, सौन्दर्य प्रतियोगियों और विज्ञापन उद्योगों को सार्वजनिक बहस का दर्जा प्रदान किया। कालांतर में नारीवाद, साहित्य के साथ-साथ सिनेमा में भी नारी छवियों की प्रस्तुतियों की जाँच करने लगा। उदाहरण के तौर पर स्त्री जीवन पर केंद्रित कुछ राजनीतिक फिल्में हैं, जिनका ज़िक्र करना लाज़मी है– 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', 'दामिनी', 'बेंडिट क्वीन', 'मम्मो', 'फायर', 'सरदारी बेगम', 'मृत्युदंड', 'गॉड मदर', 'हरी-भरी', 'गजगामिनी', 'अस्तित्व', 'जुबैदा', 'क्या कहना', 'चांदनी बार', 'ज़ख्म', 'फिज़ा' आदि में स्त्री जीवन को महत्वपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया गया है।

क्षेत्रीय सिनेमा में स्त्री

भारतीय सिनेमा में बीते कुछ सालों में क्षेत्रीय सिनेमा की फिल्मों को दर्शकों ने खूब पसंद किया है। अब क्षेत्रीय सिनेमा अपने दायरे से निकलकर पैन इंडिया फिल्मों की तरफ मुड़ गया है। बाहुबली, पुष्पा, आरआरआर, केजीएफ और कांतारा ने सफलता के नए कीर्तिमान गढ़े हैं। किंतु महिलाओं की स्थिति यहाँ भी दयनीय ही रही है। जहां तक भारतीय सिनेमा में देखा जाए तो तमिल, तेलुगु, और भोजपुरी सिनेमा जिसका बाजार अरबों में है। वहाँ स्त्री-मुक्ति, स्त्री-अधिकारों को लेकर उतना संघर्ष नहीं है जितना हिंदी और बांग्ला सिनेमा में है। तमिल, तेलुगु और भोजपुरी सिनेमा में नायिका की भूमिका नायक के तनाव और खुशी को नाच गा कर बाँटने की पद्धति को दोहराया जाता है। यहाँ तक की स्त्री की रक्षा के लिए हीरो को पर्दे पर उतारा जाता है। जो स्त्री के अधिकारों और सुरक्षा को लेकर समाज से सवाल खड़े करती है। भोजपुरी समाज में जहाँ नैतिकता और संस्कृति की बात सबसे ज्यादा की जाती है, वहाँ अश्लीलता और उत्तेजना हावी है। इसके विपरीत हम देखें तो बंगाल का सिनेमा तथा साहित्य स्त्री मुक्ति के अनसुलझे प्रश्नों को सुलझाने में हमेशा से आगे रहा है। जिसका प्रमुख कारण यह है कि वहाँ शिक्षा और विद्रोह स्वाधीनता संग्राम के पूर्व से रहा है। बंगाली समाज अपने संस्कृति, साहित्य और भाषा के प्रति जागरूक रहा है। यहीं जागरूक चेतना बांग्ला फिल्मों में नज़र आती है। साहित्य और सिनेमा के अटुट संबंध का परिणाम ही है कि बांग्ला साहित्य की कई रचनाओं पर क्लासिकल फिल्मों का निर्माण हुआ है। शरतचंद्र के रचनाओं पर बनी फिल्में इसका जीवंत और प्रभावशाली उदाहरण हैं। उनकी रचनाओं पर जो फिल्में बनी हैं उसमें मध्यमवर्गीय समाज की स्त्रियों के अधिकारों की गुँज साफ सुनाई देती है। वह अपने जीवन के प्रति आने वाली अवरोधों और दुःखों से घबरा कर नायक के सीने से दुबक कर सिसकती नहीं है बल्कि संघर्ष करती है। बांग्ला फिल्मकारों ने हिंदी सिनेमा में जो बहुमुल्य योगदान दिया है वह अमिट है। सत्यजित रे, बिमल रॉय, ऋतुपर्णा सेन, अपर्णा सेन आदि निर्देशकों ने सिनेमा में यथार्थवाद की परंपरा को जीवंत रखा।

सिनेमा तथा साहित्य में स्त्री दृष्टिकोण

19 वीं शताब्दी से 20 वीं और 21 वीं सदी में आते-आते यदि नज़र डालें तो पूरे हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श, स्त्री मुक्ति, स्त्री अस्मिता, पुरुष वर्चस्ववादी समाज और पितृसत्तात्मक व्यवस्था आदि शब्दों और इनसे जुड़े साहित्य की भरमार दिखाई देती है। आज साहित्य में लेखिकाएँ समाज में घटित होने वाली विभिन्न प्रकार की विडंबनाओं को अपने उपन्यास, कहानी और कविता में पिरोती जा रही हैं। हिन्दी साहित्य में आधुनिक

महिला कथाकारों में मन्नू भंडारी, उशा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग, कृष्णा सोबती, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, चित्रा मुदगल, मैत्रेयी पुष्पा, सूर्यबाला, गीताजंलि श्री, मनीषा कुलश्रेष्ठ, अल्पना मिश्र, आदि अनेक लेखिकाओं की रचनाओं में उनके जीवनानुभवों से उभरे स्वर साहित्य में दिखाई देते हैं। आज स्त्री विमर्श साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में किया जाने लगा है जिससे आत्मकथा, कहानी और कविता भी अछूती नहीं है। स्त्री विमर्श से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण लेखिकाओं के उपन्यासों में कृष्णा सोबती (मित्रो मरजानी, ऐ लड़की, सूरजमुखी अंधेरे के, दिलो दानिश), प्रभा खेतान (छिन्नमस्ता, पीली आंधी, आओ पेपे घर चलें), मैत्रेयी पुष्पा (अल्मा कबूतरी, इदन्नमम, चाक), मृदुला गर्ग (चित्तकोबरा, कठगुलाब, अनित्य), चित्रा मुद्गल (आवां, एक जमीन अपनी),अनामिका (दस द्वारे का पिंजरा, तिनका तिनके पास), मंजुल भगत (अनारो) गीतांजलि श्री (तिरोहित, खाली जगह, माई), ममता कालिया (बेघर, एक पत्नी के नोट्स, नरक दर नरक) आदि हैं। समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श से संबंधित आत्मकथाओं में प्रमुख लेखिकाओं में कुसुम अंसल (जो कहा नहीं गया), मैत्रेयी पुष्पा (कस्तूरी कुंडल बसै, गुड़िया भीतर गुड़िया), रमणिका गुप्ता (हादसे, आपहुदरी), प्रभा खेतान (अन्या से अनन्या) आदि प्रमुख हैं। इसी तरह से कविता और कहानी के क्षेत्र में अनेक स्त्री विमर्श से संबंधित रचनाएँ उपलब्ध हैं।

अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य और स्त्री विमर्श

नारीवादियों का मानना है कि राजनीतिक जीवन के हाशिए पर महिलाओं के अनुभव ने उन्हें सामाजिक मुद्दों पर एक परिपेक्ष्य दिया है जो विश्व मामलों में अंतरदृष्टि प्रदान करता है। यदि हम सुरक्षा पर ध्यान आकर्षित करें तो युद्ध, आक्रमकता, बल का प्रयोग आदि को मर्दानगी से जोड़ कर दिखाया जाता है, जबकि महिलाएं पुरुषों की तुलना में कम युद्धप्रिय होती हैं, उनका झुकाव सहयोग, सर्वसम्मति- निर्माण और गैर-टकराव वाली रणनीतियों के प्रति अधिक होता है लेकिन यह धारणा कि महिलाएं हमेशा शांति को बढ़ावा देती हैं; यह सही नहीं है। जीन बेथके एल्शटेन युद्ध में उन मिथकों को उजागर करती हैं जो पुरुषों को 'सिर्फ योद्धा' और महिलाओं को बचाई जाने वाली 'खूबसूरत आत्माएं' के रूप में प्रदर्शित करता है। अनिवार्यता नारीवाद के अनुसार लिंग एक सामाजिक रचना है जो मूल रूप से जैविक नियतिवाद का खंडन करने के एक साधन के रूप में कल्पित है जिसे कई नारी- विरोधी लोगों द्वारा समर्थन हासिल है 'जीव विज्ञान नियति है', जिसका अर्थ है कि महिलाओं को घरेलू भूमिका या पुरुषों के निजी स्वार्थ का परिणाम माना गया है जिसका कारण उनकी शारीरिक और जैविक संरचना है।

निष्कर्ष

आज स्त्री विमर्श केवल स्त्री से जुड़े मुद्दों तक सीमित नहीं है, बल्कि वैश्वीकरण और संचार क्रांति से उत्पन्न नई समस्याओं को भी समाहित करता है। स्त्रीवादी लेखन महिलाओं की भावनाओं, इच्छाओं और आकांक्षाओं को प्रस्तुत करने के साथ-साथ पुरुष वर्चस्व से मुक्त होने के संघर्ष को भी दर्शाता है। इसका मूल उद्देश्य स्त्री की मुक्ति है, जो पुरुष से नहीं, बल्कि उस मानसिकता से है जो उसे प्रताड़ित करती है।

सिनेमा में स्त्री विमर्श की उपस्थिति बढ़ी है, लेकिन मुख्यधारा के हिंदी सिनेमा में अब भी पारंपरिक पितृसत्तात्मक सोच प्रभावी है। अधिकांश फिल्मों में महिलाओं को पारंपरिक भूमिकाओं में दिखाया जाता है,

जबकि आधुनिक औरत को विद्रोही और महत्वाकांक्षी रूप में चित्रित किया जाता है। कुछ फिल्मकार जागरूकता और सामाजिक जिम्मेदारी को ध्यान में रखते हुए स्त्री केंद्रित फिल्में बनाते हैं।

21वीं सदी के सिनेमा में फूहड़ता और व्यावसायिकता हावी है, जिससे साहित्यिक फिल्मों को अधिक पहचान नहीं मिलती। फिर भी, समय-समय पर साहित्यिक कृतियों पर आधारित सफल फिल्में बनती हैं, जैसे 'मिसेज़' और 'लापता लेडीज़', जो स्त्री स्वतंत्रता, यौन हिंसा और सामाजिक संरचना पर सवाल उठाती हैं। समाज की भी जिम्मेदारी है कि वह ऐसे फिल्मकारों को प्रोत्साहित करे और स्त्री अधिकारों को महत्व दे।

नारीवाद यह विश्वास है कि महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार, शक्ति और अवसर दिए जाने चाहिए और उनके साथ उसी तरह व्यवहार किया जाना चाहिए या इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए गतिविधियों का सेट होना चाहिए। इसलिए इसका सीधा सा अर्थ है दोनों लिंगों के बीच समानता होना चाहिए। प्रकृति विविधता पैदा करती है लेकिन भेदभाव नहीं।

संदर्भ :

पारख, जवरीमल्ल. (2006). *हिन्दी सिनेमा का समाजशस्त्र*. नई दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी पृ. 113

बर्णवाल, कुमार प्रमोद. (2020). *श्याम बेनेगल और समान्तर सिनेमा*. गाजियाबाद: अंतिका प्रकाशन प्रा.लि. पृ. 36

रजा, डॉ. मासूम राही. (2011). *सिनेमा और संस्कृति*. (संपा. एवं संकलन : प्रो. सिंह कुंवरपाल) नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

कुमार, रामदोम समानवाल. (2020). *श्याम बेनेगल और अंतर सिनेमा*. गाजियाबाद: अंतिका प्रकाशन प्रा.लि. पृ. 242

किडवई, रशीद. (2019, अक्टूबर 04). *भारतीय सिनेमा पर गाँधी का गहरा प्रभाव नज़र आता है*.

पुनिया, तेजस. (2020 मार्च 17). *भारतीय सिनेमा वाया स्त्री विमर्श : अभिव्यक्ति के खतरे*. हस्तक्षेप प्रकाशन.

वेंकटेश्वर, डॉ. एम. (2019, फरवरी 20). *हिंदी सिनेमा में स्त्री विमर्श का स्वरूप*. साहित्य कुंज,

प्रत्युष, प्रशांत. (2023 जनवरी 29). *सिनेमा में महात्मा गांधी की मौजूदगी*. आई. चौक.

https://hindisamay.com/